पूर्व मध्यकालीन उत्तर भारतीय राजवंशों का न्यायिक प्रशासनः एक विश्लेषात्मक अध्ययन

धनेन्द्र मोहन,

शोधार्थी,

शोध निर्देशिका–प्रो. निधि सिद्धार्थ,,

ए.पी. सेन मेमोरियल गर्ल्स डिग्री कालेज, लखनऊ, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

सारांश

भारतीय इतिहास में 600 ई0 से 1200 ई0 तक भारतीय इतिहास तक के काल खण्ड को पूर्व मध्य काल के रूप में जाना जाता है। जिसने भारतीय न्यायिक सामाजिक, राजनैतिक तथा केन्द्रीय ग्रामीण प्रशासनिक व्यवस्था को एक मूल आधार प्रदान किया जिसमें न्यायिक प्रशासन व्यवस्था का स्थान महत्वपूर्ण है। इस काल में गुप्त साम्राज्य के विघटन के साथ-साथ प्रशासनिक विकेन्द्रीयकरण भी हुआ। सामन्ती ताकतों ने केन्द्रीय सत्ता का जुंआ उतार फेका। इसी के साथ सामंतवादी प्रवृतियों का उदय हुआ जिसने सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था के साथ न्यायिक व्यवस्था को भी प्रभावित किया। पूर्व मध्यकाल में सामंतीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत बड़े भू-स्वामी, शासक, उच्च प्रशासनिक अधिकारी अपनी-अपनी सेना रखने लगे जिससे सत्ता के विकेन्दीकरण को बढ़ावा मिला। विदेशीय आक्रांताओं के कारण सामंतवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला तथा भारत में कई छोटे-छोटे राज्यों की नींव पड़ी। केन्द्रीय सत्ता के कमजोर पड़ने से शासन के योग्य तथा मजबूत इच्छा शक्ति, असाधारण क्षमता वाले कुछ लोगों का एक ऐसा समूह विकसित हुआ जिसपर शासन तथा वाह्य आक्रांताओं से निपटने के लिए उन पर नैतिक दबाव आ गया। इस तरह राजा इस समूह या अभिजात वर्ग के परामर्श के अनुरूप प्रशासनिक तथा राज्य की सुरक्षा हेतु आबद्ध हो गया।

सामन्तवाद की दूसरी महत्वपूर्ण कड़ी भूमिदान थी जिसमें ब्राहमणों को दी जाने वाली भूमि जिसको ब्रहमदेय कहा जाता था। मंदिरों, मठों को दान दी जाने वाली भूमि को देवदेय कहा जाता था। यद्यपि भूमिदान के बीजों का प्रस्फुटन सातवाहन काल में हुआ। किन्तु पूर्व मध्यकाल में यह अपने व्यापक रूप में देखी गयी। इस तरह भू स्वामी अपने अपने भूखण्डों में शासन व्यवस्था को संचालित करने के लिए एक पृथक प्रशासनिक व्यवस्था के ढांचे को तैयार किया जिसके कारण प्रशासनिक ढांचे में भी आमूलचूल परिवर्तन हुए। यह शोध पत्र पूर्व मध्यकालीन न्यायिक प्रशासन के इतिहास, विधिक स्रोतों, संरचना, प्रक्रिया एंव दण्ड प्रणाली तथा समाज पर पड़ने वाले सामाजिक राजनैतिक प्रभावों का विश्लेषण को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। इस विषय पर इतिहास-विदों तथा विभिन्न स्मृति ग्रन्थों के विभिन्न मतों को समाहित करने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्दः- *न्यायिक व्यवस्था, विधिक स्रोत, विधिक प्रक्रिया, दण्ड प्रणाली।*

भूमिका

प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने यह व्यवस्था दी कि दण्ड के बिना न्याय व्यवस्था सुचारू रूप से नहीं चल सकती। दण्ड ही वह शक्ति है जिसके द्वारा अराजकता को समाप्त करके शान्ति व्यवस्था की स्थापना हो सकती है। मत्स्य पुराण का यह उल्लेख कि राजा को अपने राज्य में वानप्रस्थाश्रमी, धर्मशील, ममतारहित एवं धर्मशास्त्र प्रवीण विद्वान पुरूषों की परिषद् द्वारा भली-भाति विचार कर दण्डनीति का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि सब कुछ दण्ड पर ही प्रतिष्ठित है, इस सन्दर्भ में काफी महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पुनः वर्णन मिलता है कि यदि राज्य में दण्डनीति की व्यवस्था न रखी जाए तो बालक, वृद्व, आतुर, सन्यासी, ब्राह्राण स्त्री और विधवा सभी मत्स्यन्याय के अनुसार आचरण करेंगे। राजा द्वारा दण्ड की व्यवस्था न होने पर सभी लोग मर्यादा का उल्लघंन कर जायेंगे1।

दण्ड के सन्दर्भ में पुनः कहा गया है कि दण्ड सभी प्रजाओं पर शासन करता है और दण्ड ही सभी की रक्षा करता है। दण्ड सभी के सो जाने पर भी जागता रहता है, अतएव बुद्विमान लोग दण्ड को धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। कामन्दक ने भी दण्ड शब्द की व्युत्पत्ति 'दम' से बताते हुए इसका अर्थ नियन्त्रण से लगाया है। अग्नि पुराण में भी कहा गया है कि दण्ड अनियन्त्रित लोगों को दबाता है और अभद्र तथा अनीतिमान को दण्डित करता है।

दण्ड वास्तव में प्रजा के दोषों को नष्ट करने में या दूर करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र के अनुकूल औषधि का सेवन रोगी के समस्त वात, पित्त कफ की विकृति को नष्ट करने में समर्थ होता है।[2] इस प्रकार दण्ड के सम्यक् प्रयोग से न केवल राज्य में अराजकता दूर होती है, बल्कि सम्पूर्ण परिस्थितियों को सही एवं सुचारू ढ़ंग से नियन्त्रित करने में भी मदद मिलती है। राजनीतिक विचारों के यह विचार उनकी दूरदर्शिता के परिचायक है और आधुनिक व्यवस्था के लिए भी काफी महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। एक सभ्य समाज की स्थापना हेतु ये निश्चित रूप से काफी प्रभावशाली है। प्राचीन नीतिशास्त्र के ग्रन्थों में न्यायालय के लिए सभा तथा उसके सदस्यों के लिए सभ्य शब्द का उल्लेख मिलता है। सभा का सभापति स्वंय राजा होता था जो सभ्यों की सहायता से न्यायिक कार्य करता था। सभा के सदस्यों अर्थात् सभ्यों की योग्यताओं के सन्दर्भ में प्रकाश डालते हुए यह कहा गया है कि उन्हें सूर्य के समान प्रकाश करने वाली प्रतिभा से युक्त होना चाहिए।[3] जिस तरह सूर्य अन्धकार के समाप्त करके प्रकाश का संचार करता है, उसी प्रकार सभ्यों को निष्पक्ष भाव से अपराधी के दोषों पर विचार करके उसे सभा के समक्ष रखना चाहिए। अतिरिक्त उन्हें धर्मज्ञ अर्थात् कानून का जानकार होना चाहिए। राजा को यह भी सचेत किया गया है कि राजा न्यायिक कार्य को स्वंय देखे उसे किसी मंत्री अथवा अमात्य पर न छोड़ें।[4]

किसी भी राज्य में शांति स्थापित करने, प्रजा को कर्तव्य पालन के लिए सचेत करने एवं उसे जागरूक बनाने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका न्याय व्यवस्था की होती है। 'नियमेन इयते इति' अर्थात् जो नियम से चले अथवा जिसे नियम से चलाया जाये वह न्याय है। समस्त राजनीतिक विचारकों ने न्याय की समुचित व्यवस्था द्वारा लोगों को न्याय प्रदान करना राजा का प्रमुख कर्तव्य स्वीकार किया। मनु के अनुसार जब तक प्रजा के साथ न्याय नहीं होगा तब तक समाज में धर्म का आचरण नहीं होगा। राजा के द्वारा अपराधी को न्यायपूर्वक दण्ड दिया जायेगा तभी प्रजा प्रसन्न होगी और प्रजा के प्रसन्न रहने पर धर्म का सहीं पालन होगा।[5] आचार्य शुक्र का कहना है कि न्याय में प्रवत्त रहने वाला राजा अपने को तथा प्रजा वर्ग को त्रिवर्ग से युक्त रखता है। सोमदेव सूरि का भी मत है कि जब राजा यम के समान कठोर होकर अपराधियों को दण्ड देता है तो प्रजा अपनी मर्यादा में स्थिर रहती है।[6]

पूर्व मध्यकाल उत्तर भारतीय राजवंशों में वर्धनवंश पाल प्रतिहार, गाहड़वाल, चन्देल तथा चाहमान आदि प्रमुख थे।

अनुसंधान का उद्देश्य -

1. उत्तर भारतीय राजवंशों के न्यायिक प्रशासन का संरचनात्मक अध्ययन करना।
2. न्यायिक प्रशासन का तत्कालीन एवं समाज पर पड़ने वाले प्रभाव एवं परस्पर अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन करना।
3. तत्कालीन दण्ड प्रणाली का समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।
4. तत्कालीन न्यायिक व्यवस्था के मूलभूत तत्वों का आधुनिक न्याय व्यवस्था में प्रासंगिकता।

न्यायिक प्रशासन की मूलभूत विशेषतायें

राज्य में न्यायिक व्यवस्था का सर्वोच्च न्यायाधीश राजा होता था किन्तु न्यायिक प्रणाली में ग्राम न्यायालयों की भूमिका महत्वपूर्ण थी क्योंकि अधिकांश विवाद पंचायतों द्वारा निर्णीत किये जाते थे और अन्तिम न्यायालय अर्थात् राजा की अदालत तक पहुँचने वाले मुकदमों या विवादों की

संख्या बहुत कम रह जाती थी। राजा के अधीन न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय अन्तिम निर्णय माना जाता था। वादी एवं प्रतिवादी द्वारा उपस्थित प्रमाणों का निर्णय करने के पश्चात् न्यायिक अधिकारी सूझ-बूझ के साथ मामले का निर्णय करते थे। निर्णय पत्र की नकल वादी एवं प्रतिवादी को दे दी जाती थी। जिसके विरूद्व निर्णय होता था वह अगली अदालत में अपील प्रस्तुत करने के लिए स्वतंत्र होता था। न्यायिक प्रणाली में सभ्यों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण होती थी। वे विशेष प्रतिभावान् व्यक्ति होते थे और विधि से सम्बन्धित समस्त पहलुओं के जानकार होते थे। वे निश्छल, यथार्थ एवं स्पष्टवादी होते थे और निर्णय देते समय समस्त बातों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए निष्पक्ष न्याय प्रदान करने की पूरी कोशिश करते थे। विधियों की व्याख्या हेतु उनमें विशेष प्रतिभा होती थी और पहले से चली आ रही परम्पराओं पर भी वे विचार करते थे।

जुर्माना, कारावास, देश निष्कासन, अंग-विच्छेद एवं प्राणदण्ड देने की व्यवस्था थी। दण्ड प्रायः जुर्माने के रूप में वसूल किया जाता था और कभी-कभी तो यह काफी सरल रूप में लिया जाता था। कानून का व्याख्याता कदाचित धर्माधिकारिन या धर्मासनभट्ट होता था जो विवादित मामलों में कानून के वैधरूप की प्रस्तुत करता था। उसकी सहायता के लिए विधिवेत्ता, धर्मशास्त्र पाठक एवं अन्य अधिकारी होते थे। उसके अधीन करणिक भी होते थे। ऐसा लगता है कि उस समय अधिवक्ता अर्थात् वकील नहीं होते थे और अभियुक्त को स्वंय अपने मुकदमें की पैरवी करनी पड़ती थी। कभी-कभी उसे अपनी निरापराधिता सिद्व करने के लिए दिव्यों से भी गुजरना पड़ता था। राजा द्वारा बनाए गए विधि नियम धर्म (ऋषि -मुनियों द्वारा निर्धारित नियम), व्यवहार (प्रजा के रीति रिवाज) और चरित (पूर्व के उदाहरण) पर आधारित होते थे। राजा इन्हीं को आधार बनाकर प्रजा पर शासन करता था। न्यायिक प्रशासन में धर्म का क्षेत्र काफी विस्तृत था।

मुकदमों के निर्णय हेतु केवल साक्षियों पर ही निर्भर रहने की व्यवस्था नहीं थी बल्कि गुप्तचरों द्वारा भी सहायता लेने का प्राविधान था। गम्भीर अपराधों में गुप्तचर विभाग से परीक्षण कराकर ही निर्णय दिया जाता था। प्रमाण और गुप्तचरों द्वारा दी गयी सूचना को आधार मानकर विवादग्रस्त विषयों को निपटाने की प्रथा थी। आधुनिक युग की भाँति उस समय भी न्यापालिका को राजा, जो कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी होता था, के प्रभाव से मुक्त रखा गया था। वह न्याय का सर्वोच्च अधिकारी अवश्य था, उसके साथ विद्वान ब्राह्मण और अन्य न्यायिक पदाधिकारी बैठकर विवादों का निर्णय करते थे। विशेष परिस्थितियों में भी यदि व अकेले निर्णय करता भी था तब भी धर्मशास्त्र के नियमों की अवहेलना नही कर पाता था। इस तरह कार्यपालिका के सर्वोच्च अधिकारी उसके दबाव से मुक्त थी। मुकदमों के लिए निर्णय हेतु केवल साक्ष्यों पर ही निर्भर रहने की व्यवस्था नहीं थी बल्कि इसके लिए गुप्तचरों द्वारा भी सहायता लेने का प्राविधान था। गुप्तचरों द्वारा सूचना एकत्र करके न्यायधीशों को दी जाती थी जिसके आधार पर वे निर्णय देते थे। यह भी व्यवस्था दी गयी थी कि दण्ड प्रदान करने के पूर्व अपराध का प्रसंग, अपराध की मात्रा, उसके प्रकार एवं स्वरूप, देशकाल एवं परिस्थित पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने के पूर्व ही पश्चात् ही दण्ड प्रदान किया जाये। न्यायाधीशों से भी अच्छे आचरण एवं व्यवहार की अपेक्षा की गयी और उन्हें लोकप्रिय एवं सभी का विश्वास पात्र होने की सलाह दी गयी।

ब्रहम पुराण में गौ हत्या करना, ब्रहम हत्या करना, धरोहर और भूमि हरन करना, मिथ्या गवाही देना, निरापराध व्यक्ति को बंदी बनाना, ब्राह्मणों को पीड़ा देना, अत्यधिक मद्यपान करना, पति पत्नी में भेद करना, परस्त्री गमन, स्त्री बालक तथा वृद्व की हत्या करना, नगर, क्षेत्र, ग्राम तथा घर में आग लगाना माता-पिता या मित्र की हत्या करना, मित्र के साथ विश्वासघात करना, शरणागत को मारना, मिथ्या भाषण करना, ब्राह्मण की भूमि पर अधिकार करना, सोना चुराना, वृक्ष काटना, विष देना, दूसरों की फसल लूटना, रिश्वत लेना, दूसरों की धन्य धान्य का अपहरण करना।

न्यायिक प्रशासन की संरचना

राजा की भूमिका- राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था। न्याय सभा में प्राणविवाक, आमत्य, ब्राह्मण तथा पुरोहित आदि की भूमिकाएं काफी महत्वपूर्ण होती थी।[9]

केन्द्रीय न्यायिक अधिकारी- प्राणविवाक मुख्य न्यायाधीश होता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार यह अधिकारी वादी प्रतिवादी से प्रश्न पूछता था। अतः उसे प्राण तथा अन्य सदस्यों के समक्ष इन तथ्यों की विवेचना करता था, अतः विवाक कहते थे। इस तरह इसको सम्मिलित रूप से प्राणविवाक कहा जाता था।[10]

स्थानीय न्यायिक अधिकारी: गुर्जर प्रतिहार राज्य में पंचकुल नामक प्राचीन पंचायत कार्यों के साथ-साथ न्यायिक कार्यों का निर्वहन भी करती थी। [11] विधिक स्रोत- धार्मिक ग्रन्थ, स्मृतियों, स्थानीय रूढ़ियों, परम्परायें तथा रीति-रिवाज आदि इस विवेच्य काल के विधिक स्रोत हैं।

अपराध एवं दण्ड: अग्नि पुराण में अपराधों की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है और अपराध के अनुरूप दण्ड की व्यवस्था का प्राविधान का भी उल्लेख मिलता है।[12]

कुल, श्रेणी, पूग की न्यायिक व्यवस्था में भूमिका: याज्ञवल्क्य के टीकाकार विज्ञानेस्वर ने इन्हे सरकारी न्यायलयों की संज्ञा दी है। शुक्र ने देश, जाति, कुल, श्रेणी और जनपद के धर्म की समीक्षा करके राजा को उसके धर्माकूल पालन करने की सलाह दी है।[13]

समाज पर प्रभाव: जातिगत भेदभाव, सामंतों की स्वायतता, धर्म शास्त्रों की कठोरता तथा निम्न वर्गों के प्रति भेदभावपूर्ण व्यवहार दृष्टिगोचर होता है।

आधुनिक इतिहासकारों ने पूर्व मध्यकालीन न्यायिक प्रशासन को न्याय से अधिक 'सामाजिक नियंत्रण' की व्यवस्था के रूप में देखा है। आर0एस0 शर्मा और वी0डी0 उपाध्याय के अनुसार यह सामंती ढांचे को सुदृढ़ करने का साधन थी।

पूर्व मध्यकालीन न्यायिक व्यवस्था का आधुनिक न्यायिक प्रणाली में प्रासंगिकता

1. प्राचीन भारतीय न्यायिक व्यवस्था में सुधारवादी सिंद्धांत पर विशेष बल दिया जाये।
2. पूर्व मध्यकाली न्यायिक व्यवस्था में आधुनिक न्यायिक व्यवस्था की भांति कुछ अर्थ दण्ड देकर पुर्नविचार की व्यवस्था थी। इसे यह पता चलता है कि तत्कालीन न्यायिक व्यवस्था में अपील का प्राविधान था।
3. आधुनिक न्याय व्यवस्था की भांति शक्ति पृथककरण का सिद्धांत लागू था क्योंकि राजा कार्यपालिका के साथ ही न्यायपालिका का भी सर्वोच्च था किन्तु न्यायिक प्रक्रिया के दौरान विद्वान ब्राह्मण तथा अन्य न्यायिक प्राधिकारी ज्यूरी की भांति सहायता प्रदान करते थे।11

निष्कर्ष

इस तरह अरबो तुर्कों के आक्रमण तथा भूमिदान से भारत कई अन्य छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। केन्द्रीय सत्ता निर्बल होने से सामंतीकरण की प्रक्रिया का व्यापक रूप सामने आया। कई छोटे छोटे प्रशासनिक केन्द्र बिन्दु स्थापित हो गये जिससे जमीनी स्तर पर नवीन प्रशासनिक पदों का सृजन हुआ विशेषकर न्यायिक व्यवस्था में ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायतों का विकास हुआ जिससे राजा पर न्यायिक निर्णय देने का दबाव कम हो गया। स्थानीय स्तर पर नियम कानून, रीति-रिवाजों, परम्पराओं तथा रूढ़ियों पर आधारित थे। दण्ड व्यवस्था का दृष्टिकोण सुधारवादी था अर्थात् पाप को सजा दो पापी को नहीं। आधुनिक न्यायिक व्यवस्था में भी इन्ही न्यायिक तत्वों का समावेश है।

इस तरह न्याय व्यवस्थ्सा समाज का स्तम्भ थी जिसके द्वारा सभी को नियंत्रित करने में सहायता मिलती थी। विशुद्ध न्याय पर ही राज्य प्रतिष्ठित होता था और न्यायोचित व्यवहार के द्वारा ही धर्म की रक्षा होती थी। प्रजा को प्रसन्न रखना ही राजा का सनातन धर्म था और वह अपने धर्म का पालन एंव सत्य की रक्षा उचित न्यायिक प्रणाली के माध्यम से ही करता था। न्याय व्यवस्था निश्चित रूप से अपनी विधिताओं से परिपूर्ण थी

और उसका संचालन नियमों और कानूनों के आधार पर होता था।

संदर्भसूची

1. मत्स्यपुराण 225.9-10 ।
2. नीति, दण्डनीति, समुदेश।
3. नीति 28.3 ।
4. वही 17.36 ।
5. जायसवाल एस.के, पूर्व मध्यकालीन प्रमुख सहित्यिक कृतियों और अभिलेखों में वर्णित राजनीतिक चिन्तन और प्रशासन।
6. नीति- 5.60 ।
7. शुक्र- 4.5, 2.6 ।
8. मान्सोल्लास-2.2.96 ।
9. जायवाल एस.के. पूर्वमध्यकालीन प्रमुख साहित्यिक कृतियों और अभिलेखों में वर्णित राजनीतिक चिन्तन और प्रशासन
10. 1याज्ञवल्क्य स्मृति 2.3 पर मिताक्षरा टीका।
11. एपि. इन्डिका।
12. पुरी ब्रजनाथ, द हिस्ट्री आफ गुर्जर प्रतिहार।
13. जायसवाल एस.के., पूर्व मध्यकालीन प्रमुख सहित्यिक कृतियों और अभिलेखों में वर्णित राजनीतिक चिन्तन और प्रशासन।
14. जायसवाल एस.के., पूर्व मध्यकालीन प्रमुख सहित्यिक कृतियों और अभिलेखों में वर्णित राजनीतिक चिन्तन और प्रशासन।